II. 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम
(Indian Councils Act, 1892)

ऐक्ट के पारित होने तक की घटनाएं—1861 के पश्चात् भारतीय संविधान का विकास, राजनैतिक असन्तोष तथा आन्दोलन और परिषदों के सुधार की एक क्रमबद्ध कथा है। सुधार जो अनिच्छा से किए जाते थे, सदैव अपर्याप्त होते थे, जिन से असन्तोष बढ़ता था और अधिक सुधार की मांग होती थी। यह कथन उन सभी अधिनियमों के विषय में सत्य है जो ब्रिटिश संसद ने 1892, 1909, 1919 और 1935 में पारित किए। सभी अवस्थाओं में कहानी की रूपरेखा लगभग एक ही समान थी।

1861 में स्थापित विधान परिषदों में जो भी गैरसरकारी तत्व थे, चाहे वे न के बराबर ही थे, जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इनमें केवल बड़े-बड़े जमींदार, अवकाश-प्राप्त अधिकारी अथवा भारतीय राजे होते थे कि जनता की समस्याओं को समझने का दावा नहीं कर सकते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में राष्ट्रीयता ने उभरना आरम्भ कर दिया। इसके बहुत से कारण थे। 1857 में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थापित विश्वविद्यालयों से विद्या के प्रसार में उन्नति हुई और उससे राष्ट्रीयता की भावना उभरी। शिक्षित वर्ग द्वारा अंग्रेजी भाषा के प्रयोग से वे लोग एक-दूसरे के समीप आ गए। 1857 के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजी सरकार द्वारा दमनकारी नीतियों के अनुसरण करने के कारण लोगों में उनके प्रति घृणा हो गई। भारतीय जानपद सेवा (Indian Civil Service) के अधिकारी बहुत दम्भी तथा घमण्डी होते थे अतएव जनता तथा उनके बीच खाई बढ़ती चली गई। लार्ड लिटन के प्रशासन से सरकार के प्रति भारतीयों में कटुता बढ़ गई। 1878 में पारित दमन के दो अधिनियमों भारतीय भाषा समाचार पत्र अधिनियम तथा भारतीय शस्त्र अधिनियम ने जनता की भावनाओं को बहुत उत्तेजित कर दिया। इस प्रशासन पर यह आरोप था कि उसने भारतीयों को और भी निःशक्त बना दिया है। भारतीय सरकार तथा अंग्रेजी सरकार के बीच सूती कपड़े पर 5 प्रतिशत आयात कर हटाने के लिए हुए विवाद के कारण लोगों की आंखें खुल गईं। इससे अंग्रेजों के न्यायपूर्ण तथा समानता

Scanned with CamScanner

के व्यवहार के खोखलेपन का स्पष्ट प्रमाण मिल गया कि लंकाशायर के मिल वालों के हितों के लिए भारतीय जनता के हितों को न्यौछावर कर दिया गया था। इसके पश्चात् इलबर्ट बिल (Ilbert Bill) का विवाद हो गया। इन सभी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों से जहां उनका अपने हितों का प्रश्न हो, न्याय की आशा नहीं करनी चाहिए। इन परिस्थितियों में 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस का आरम्भिक उद्देश्य यह था कि भारत में लोकमत को सक्रिय किया जाए ताकि जनता की कठिनाइयों की ओर ध्यान दिलाया जा सके और सुधारों के लिए संवैधानिक रूप से परन्तु ज़ोर देकर दबाव डाला जाए। अपने पहले अधिवेशन में ही कांग्रेस ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया : "कांग्रेस यह चाहती है कि सर्वोच्च तथा स्थानीय विधान परिषदों में पर्याप्त संख्या में निर्वाचित सदस्य सम्मिलित करके इनका सुधार तथा विस्तार किया जाए और इसी प्रकार की विधान परिषदें, अवध या उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों (आधुनिक यू.पी.) तथा पंजाब में भी स्थापित की जाएं और यह भी चाहती है कि इन परिषदों में विचार के लिए बजट इत्यादि प्रस्तुत किए जाएं और इनके सदस्यों को कार्यकारिणी से प्रशासन के सभी विभागों पर प्रश्न पूछने का अधिकार हो।" इसी प्रकार के प्रस्ताव इसके पश्चात् के अधिवेशनों में भी पारित होते रहे।

आरम्भ में कांग्रेस के प्रति अंग्रेज़ अधिकारियों का व्यवहार सहानुभूति तथा मित्रतापूर्ण था। परन्तु 1888 तक यह पूर्णतया परिवर्तित हो गया था। उस वर्ष तो लार्ड डफरिन ने कांग्रेस पर सीधा प्रहार किया और यह कहा कि "यह एक सूक्ष्म अल्पसंख्या का प्रतिनिधित्व करती है" और कांग्रेस की मांग एक "अज्ञात में बड़ी छलांग है।"

यद्यपि डफ़रिन ने कांग्रेस के महत्व तथा इसके प्रतिनिधि रूप के महत्व को कम करने का प्रयत्न किया परन्तु वह इससे कहीं अधिक समझदार था और उसने इस आन्दोलन के महत्व को समझा और उसने गुप्त रूप से परिषदों को उदार बनाने के सुझाव इंग्लैण्ड भेजे। उसने अपनी परिषद की एक समिति की नियुक्ति भी की जो कि प्रांतीय परिषदों के विस्तार के लिए, उनके पद (status) को ऊंचा करने के लिए, उनके कार्य-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए, उनमें आंशिक प्रतिनिधित्व प्रणाली आरम्भ करने के लिए और एक राजनैतिक संस्था के रूप में उनका प्रसार करने की योजना बनाए। परन्तु उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह भारत में अंग्रेजी नमूने की संसदीय प्रणाली स्थापित नहीं करना चाहता। उसके मन में इस प्रकार का कोई विचार नहीं था।

लार्ड डफ़रिन ने समिति की रिपोर्ट को अपने निजी विचारों सहित, लन्दन भेज दिया जिसमें परिषद की रचना तथा शक्तियों में परिवर्तनों का सुझाव था। इनका मुख्य उद्देश्य था कि "ऐसे भारतीय भद्र पुरुषों को, जो अपने प्रभाव, तथा अपनी योग्यताओं से अपने देशवासियों में विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं और जिनमें इतनी बुद्धि तथा क्षमता है कि वे देश के प्रशासकों की अपने सुझावों से सहायता कर सकें, उनको लोक कार्यों के प्रशासन में अधिक भाग लेने का अवसर दिया जाए।"

1890 में इंगलैंड के रुढ़िवादी दल की सरकार ने भारत सचिव लार्ड क्रास (Lord Cross) के सुझाव पर इन सुझावों के आधार पर लार्ड्ज़ सभा में एक विधेयक रखा। यह विधेयक बहुत ही धीमी गति से चलता हुआ 1892 में संसद द्वारा पारित किया गया। इसे भारतीय परिषद अधिनियम की संज्ञा दी गई।

अधिनियम की धाराएं—इस अधिनियम में केवल भारतीय विधान परिषदों की शक्तियां, कार्य तथा रचना की ही बात कही गई थी। केन्द्रीय विधान मण्डल के विषय में यह निश्चय हुआ कि अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम से कम 10 हो तथा अधिक से अधिक 16 हो परन्तु इसमें सपरिषद राज्य सचिव की आज्ञा लेनी आवश्यक होगी और उन्हें ही इन अतिरिक्त सदस्यों के मनोनीत करने के लिए नियम इत्यादि बनाने होंगे। इस वृद्धि को "बहुत ही थोड़ा" कहा गया था। कर्ज़न ने इसके विषय में यह तर्क दिया था कि "संख्या के अधिक होने से किसी विमर्शी निकाय (deliberative body) की कार्यकुशलता अधिक नहीं हो जाती......बड़े-बड़े निकाय प्रायः अनिश्चित तथा व्यर्थ बातों में ही अपना समय नष्ट कर देते हैं।" इस अधिनियम में यह भी सुझाव था कि परिषद में कम से कम 40 प्रतिशत लोग गैर सरकारी होने चाहिएं। इन अशासनिक सदस्यों में कुछ चुने हुए तथा कुछ मनोनीत होते थे। चुनाव का सिद्धान्त सीमित रूप से स्वीकार कर लिया गया था। विधान मण्डल के सदस्यों के अधिकार भी दो क्षेत्रों में बढ़ा दिए गए। भविष्य में उन्हें वित्तीय विवरण जो कि सदन में दिया जाना था, उस पर अपने विचार

Scanned with CamScanner

प्रकट करने का अधिकार दिया गया यद्यपि इस विषय पर कोई प्रस्ताव रखने अथवा सदन के मत विभाजन कराने का अधिकार उन्हें नहीं था। दूसरे, उन्हें सार्वजनिक हितों के मामलों में 6 दिन की सूचना देकर प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया गया।

प्रांतीय विधान मण्डलों को बम्बई तथा मद्रास तथा बंगाल में इस अधिनियम द्वारा न्यूनतम 8 और अधिकतम 20 अतिरिक्त सदस्यों द्वारा बढ़ा दिया गया। परन्तु उत्तरपश्चिमी प्रान्त (आधुनिक यू. पी.) में अधिकतम सीमा, 15 निश्चित की गई। प्रांतीय मण्डलों में भी कार्यकारी परिषद से प्रश्न पूछने (interpellation) की अनुमति दी गई। इसी प्रकार वह सरकारी नीतियों पर भी प्रश्न पूछ सकते थे जिसके लिए 6 दिन की सूचना आवश्यक थी। परन्तु यदि सरकार चाहे तो कारण बताए बिना प्रश्नों का उत्तर देने से मनाही कर सकती थी।

इस अधिनियम के अधीन निर्वाचन पद्धति—इस अधिनियम का सबसे महत्वपूर्ण अंग निर्वाचन पद्धति का आरम्भ करना था यद्यपि उसमें निर्वाचन शब्द का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया गया था। केन्द्रीय विधान मण्डल में अधिकारियों के अतिरिक्त 5 गैरसरकारी सदस्य होते थे, जिन्हें चारों प्रान्तों के प्रांतीय विधान मण्डलों के गैरसरकारी सदस्य तथा कलकत्ता के वाणिज्य मण्डल (Chamber of Commerce) के सदस्य निर्वाचित करते थे। अन्य पांच गैरसरकारी सदस्यों को गवर्नर-जनरल मनोनीत करता था। प्रांतीय विधान मण्डलों के सदस्यों को, नगरपालिकाएं, जिला बोर्ड, विश्वविद्यालय तथा वाणिज्य मण्डल निर्वाचित करते थे। परन्तु निर्वाचन की पद्धति अप्रत्यक्ष थी और इन निर्वाचित सदस्यों को 'मनोनीत' (nominated) की संज्ञा दी जाती थी। ये सभी इकाइयां एकत्रित होकर अपने चुने हुए व्यक्तियों की सिफारिशें गवर्नर-जनरल तथा गवर्नरों को भेजते थे। बहुमत द्वारा चुने हुए व्यक्ति निर्वाचित नहीं कहलाते थे अपितु यह कहा जाता था कि उनके नाम की 'मनोनीत करने के लिए सिफारिश की गई है'। इस अधिनियम में इस धारा को इन शब्दों में वर्णित किया गया था : "गवर्नर-जनरल के लिए यह सम्भव हो सकेगा कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे कुछ ऐसे व्यक्ति उसको निर्देशित किए जाएं जो कि चुनाव द्वारा चुने जाएं और यदि ऐसे चुनाव का गवर्नर-जनरल प्रबन्ध कर सके।"

अधिनियम पर विचार—1892 का भारतीय परिषद अधिनियम 1861 के अधिनियम से उन्नति की ओर एक पग था और जैसा होना चाहिए था, था भी वैसा ही। इस अधिनियम से विधान मण्डलों के कार्य विस्तृत कर दिए गए। सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे और इस प्रकार कार्यकारिणी से जो सूचना चाहें प्राप्त कर सकते थे। चालू वर्ष के लिए वित्तीय विवरण तथा अगले वर्ष के लिए बजट सदन के सन्मुख प्रस्तुत किया जाता था। सदस्यों को बजट पर साधारण विचार व्यक्त करने, तथा व्यय में कमी अथवा बढ़ोतरी करने के लिए सुझाव देने का अधिकार मिल गया। अब जब कि विधान मण्डल के अधिकार क्षेत्र बढ़ गए थे, देश के सब से प्रगतिशाली लोग इनमें आने लगे। गोपाल कृष्ण गोखले, आशुतोष मुखर्जी, रासबिहारी घोष तथा सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी जैसे प्रमुख नेता विधान मण्डलों में प्रवेश कर गए। उनकी वाक्पटुता तथा राजनैतिक बुद्धि ने शिक्षित भारतीयों की संसदीय शक्तियों तथा देश-भक्ति को पर्याप्त मात्रा में व्यक्त किया। केन्द्र में अतिरिक्त सदस्यों की न्यूनतम तथा अधिकतम संख्या 1861 के ऐक्ट में दी गई संख्या 4 से बढ़ा दी गई। बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता की परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की अधिकतम संख्या 20 अधिक हो गई। इन में से 9 सरकारी अधिकारी, 4 मनोनीत तथा 7 निर्वाचित लोग होते थे। निर्वाचन मण्डल, नगरपालिकाएं तथा जिला बोर्ड, विश्वविद्यालय तथा व्यापार मण्डल सभी को मिला कर निश्चित किया गया।

इस अधिनियम में चुनाव प्रणाली का स्वीकार करना यद्यपि निहित था, स्पष्ठ नहीं, एक अत्यधिक वैधानिक महत्व की बात थी। यद्यपि प्रतिनिधि सरकार बहुत दूर की बात थी, फिर भी कुछ न कुछ आरम्भ तो हो ही गया था। इस अधिनियम में बहुत सी त्रुटियां थीं जिनके कारण भारतीय राष्ट्रवादी इससे असन्तुष्ट रहे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ऐक्ट की बार-बार आलोचना की गई। आलोचकों ने टेढ़ी-मेढ़ी निर्वाचन पद्धति की बहुत आलोचना की। यह कहा गया कि स्थानीय निकायों (local bodies) को चुनाव मण्डल बनाना एक प्रकार का इनके द्वारा मनोनीत करना ही है और फिर यह कि सरकार की इच्छा पर ही है कि इनको स्वीकार करे अथवा अस्वीकार करे। विधान मण्डलों की शक्तियां भी बहुत ही सीमित थीं। सदस्य अनुपूरक (supplementary) प्रश्न नहीं पूछ सकते थे। किसी प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार किया जा सकता था और इसका कोई प्रतिकार नहीं था। परिषदों को बजट पर कोई

Scanned with CamScanner

विशेष अधिकार नहीं दिया गया था। चुनाव के नियम बहुत ही असंतोषजनक थे। कुछ वर्गों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिला था तथा कुछ को अत्यधिक। बम्बई में 2 स्थान यूरोपीय व्यापारियों को दिये गए, भारतीय व्यापारियों को एक भी नहीं। दो स्थान सिंध को दे दिए गए, पूना और सतारा को एक भी नहीं। गोखले के शब्दों में, "अधिनियम की वास्तविक कार्यशीलता से उसके खोखलेपन का ठीक-ठीक ज्ञान हुआ। बम्बई प्रेजिडेन्सी को 8 स्थान मिले। भारत सरकार ने नियमों के अनुसार उनमें से 2 तो बम्बई विश्वविद्यालय तथा नगर निगम को दे दिये। बम्बई सरकार ने 2 स्थान यूरोपीय व्यापार समुदाय को दे दिए और एक स्थान दक्कन के सरदारों को दे दिया, एक सिन्ध के जमींदारों को और केवल दो स्थान साधारण जनता को मिले।"

1893 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के सभापति पद से बोलते हुए दादा भाई नौरोजी ने ये विचार व्यक्त किए, "1892 के अधिनियम के अनुसार किसी सदस्य को कोई प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं होगा न ही वित्तीय विचार विनिमय में सदन का मत विभाजन मांगने का और न ही इस अधिनियम के अधीन बनाए नियमों अथवा इसके अधिकार द्वारा दिये प्रश्नों के उत्तर में ऐसा करने का अधिकार होगा। इस अधिनियम के अधीन दिये गए अधिकार इतने व्यर्थ हैं। इस ऐक्ट के अधीन बनाए गए नियमों को समाप्त करने अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार उस सभा को नहीं होगा जो क़ानून तथा नियम बनाने के लिए बुलाई जाएगी। इस प्रकार हम लोग सभी अभिप्राय तथा उद्देश्यों के लिए एक मनमानी सरकार के अधीन होंगे।"

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि 1892 का अधिनियम यद्यपि कांग्रेस की मांगों से बहुत ही कम था फिर भी यह जो पहले व्यवस्था थी उससे बहुत अच्छा था। प्रतिनिधियों के चुनाव तथा विधानमण्डल को कार्यकारिणी पर थोड़ा बहुत नियन्त्रण देकर, इस अधिनियम ने संसदीय उत्तरदायी सरकार के आरम्भ करने के लिए मार्ग निर्माण किया।

Scanned with CamScanner